

# जनवादी संस्कृत कविता - दशा एवं दिशा

डॉ. प्रताप मिश्र\*

[pratapm1977@gmail.com](mailto:pratapm1977@gmail.com)

सार

बिना किसी भूमिका के मैं अपनी बात आपके समक्ष रखना चाहता हूँ। विचार का विषय है 'समकालीन संस्कृत साहित्य में युगबोध'। यहाँ समकालीन संस्कृत-साहित्य के प्रसंग में मैंने अपने अध्ययन का क्षेत्र 'संस्कृत की जनवादी कविता' रखा है। कविता के साथ समकालीन शब्द जुड़ते ही कविताओं का एक वर्गीकरण जनवादी कविताओं के रूप में अनायास हो जाता है जो कि आधुनिक पाठकों की सबसे आवश्यक मांग है। अन्य भाषाओं में दशकों से ऐसी मांगें और उनकी पूर्ति हो रही है। संस्कृत में अभी समकालीन कविता के प्रसंग में 'जनवादी कविता' को न तो रूपायित ही किया जा सका है और न ही इसकी कोई परिभाषा ही बन सकी है, जबकि 'समकाल' और वर्तमान का सबसे बड़ा आधार है - 'जन' 'जनवाद' और जनवादी साहित्य।

**Keywords:** जनवादी संस्कृत कविता, संस्कृत कविता में युगबोध

संस्कृत का वर्तमान साहित्य निश्चित ही बहुत व्यापक, विस्तृत, अधिसंख्यक और सर्वगामी है लेकिन एक पाठक के अध्ययन हेतु इसकी प्रतियाँ बहुत कठिनाई से उपलब्ध हो पाती हैं। इस कठिनाई के कारण विवेच्य विषय की विविधता और गंभीरता तक मैं नहीं जा सका।

१. जनवादी कविताओं के रचनाकर्म में शोषण, अन्याय, अमानव व्यवहार, यन्त्रणा, पीड़ा आदि के सन्दर्भ में विषय या वस्तु के प्रति हृदय की तीव्र संवेदना और विषय की उत्कट संवेदनशीलता जब सम्प्रेषण के दौर से गुजरती है तो कभी-कभी ऐसे विम्ब, प्रतीक, सादृश्य-विधान आदि भी कविता में अंकित हो जाया करते हैं जिन्हें कवि स्वयं भी परिभाषित नहीं कर सकता। हिन्दी-साहित्य की जनवादी कविताओं में धूमिल के यौन या अक्षील प्रतीक इसी प्रकार के प्रतीक हैं। लेकिन इन प्रतीकों का जो असर कविता में दीख पड़ता है और इस असरदार कविता ने जो परिणाम प्रकट किये हैं उसके समक्ष समूचे हिन्दी-साहित्य का वह आलोचक-वर्ग जो इन यौन-प्रतीकों को हिन्दी-कवितई से खारिज करना चाहता था; -आज नतमस्तक है। दुर्भाग्य से समकालीन संस्कृत-कविता की चेतना और इसे सम्प्रेषित करने का माध्यम-विधान अभी उस शिखर पर नहीं पहुँच सका है और न तो उसके वहाँ पहुँचने की कोई सशक्त भूमिका का निर्माण ही हो सका है।

\* असिस्टेंट प्रोफेसर, गणेशराय पी. जी. कॉलेज, डोभी, जौनपुर

संस्कृत की वर्तमान रचनाधर्मिता में सामान्य जन के शोषण, अन्याय, दमन आदि प्रवृत्तियों के प्रति एक विद्रोही स्वर मुखर हुआ है और इस रूप में संस्कृत की वर्तमान कविता उस मार्ग पर अपने पैर रख चुकी है जिसका अन्तिम गन्तव्य जन है, जनवाद है। यहाँ यह भी विशेष सावधानी से उल्लेख्य है कि जनवादी-कविता के मार्ग पर संस्कृत-रचनाधर्मिता ने अभी पैर धरे ही हैं। इस मार्ग में आने वाली असंख्य बाधाओं से उसे लड़ना है और अपनी गति पकड़नी है। लेकिन इसमें कोई शंका नहीं कि वर्तमान संस्कृत की रचनाधर्मिता ने जनवाद की ओर अपना ध्यान आकृष्ट कर लिया है।

जनवादी संस्कृत कविताओं की वर्तमान प्रकृति, दशा एवं दिशा को प्रकट करने हेतु मैं यहाँ कतिपय कविताओं को उद्धृत करूँगा -

बीते दशकों में स्त्री-विमर्श समकालीन विश्व-साहित्य का सबसे बड़ा विमृश्य बिन्दु रहा है और आज भी समकालीन कविता का सबसे ज्वलन्त और विचारणीय विषय। भारतीय भाषाओं में खासकर बंगला, मराठी और उसके बाद हिन्दी कविता में इस मुद्दे पर जमकर बहस हुई और इनकी कविताओं में स्त्री की वैश्विक चेतना एवं लिंगभेद रहित समानता को हाशिये से उटाकर मुख्य धारा में सम्मिलित कर लिया गया। किन्तु संस्कृत-कविता की मुख्य धारा में स्त्री-विमर्श अभी भी 'दूर की कौड़ी' तो है लेकिन समकालीन कविता की बदलती प्रवृत्तियों के मूल कारण (जन) को जानने वाली संस्कृत-कविता की वर्तमान धारा स्त्री-विमर्श से विमुख नहीं है। बनमाली बिस्वाल की तीन कविताएँ? यहाँ उद्धरणीय हैं-

अद्य सीताः त्वत्सदृशा

स्वसतीत्वपरीक्षायै खादितुं विवशाः

गर्भनिरोधिकास्ताः गोलिकाः।

'विवशता' और वह भी गर्भनिरोधक गोलियाँ खाने की समूची कविता का प्राणतत्त्व है। पौराणिक मिथक सीता की एतद्गुण उपस्थिति और उसकी उपर्युक्त विवशता का यह आधुनिक युगबोध संस्कृत-साहित्य के लिये अधुनातन विश्व-साहित्य का द्वार खोलता है। कविता को व्याख्यायित नहीं करूँगा, यह स्वयं स्त्री-विमर्श का महाभाष्य है।

दूसरी कविता जिसका शीर्षक 'जाया' (ऋतुपर्णा) है; की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं -

न सा व्यक्तिः

किन्तु काचित् सृष्टिः

पत्यै अर्पयति देहं

न प्रतिवदति

तस्य ह्रिस्की'-पानजन्यं मुखगन्धम्।

१ ऋतुपर्णी, "नारीनारायणी" बनमाली विश्वाल, पृ.३१

विश्व-संस्कृति और सभ्यता के किसी भी पुरुषवादी समाज ने स्त्री को एक व्यक्ति के रूप में मान्यता नहीं दी। स्त्री अनन्त काल से 'सृष्टि' ही रही है। इन्द्रिय-भोग और कभी न खत्म होने वाली पुरुष-वासना की। हिवस्की से भभकते मुख द्वारा चुम्बित होना, होते रहना और वह भी अपने चेहरे पर सेक्स के उस तथाकथित 'इमोशन' को प्रदर्शित करते हुए।'

तीसरी कविता का शीर्षक है 'वारांगना' -

कोऽत्र दोषः, कीदृशोऽपराधः

यदि साऽत्र विक्रीणाति उदरनिमित्तम्

अनिच्छया विवशेन स्वकीय-यौवनम्॥

इस दोष और अपराध की भूमि तैयार करने वाले तथाकथित सभ्य तथा पूँजीवादी समाज की मीमांसा होनी ही चाहिए। आधुनिक युगबोध की व्यक्तिवादी परा चेतना ने इसे पहचान लिया है।

चौथी कविता है 'विज्ञापनम्'<sup>२</sup> शीर्षक से -

किं विज्ञाप्यते

नारीणां यौवनम् उत किञ्चिद् विपणीयं वस्तु

पुरुषाणां क्षौरोपकरणं

नारीणां देहस्तत्रापि माध्यमः

पुरुषाणाम् अधोवस्त्रं विज्ञाप्यते हन्त नारी-देहे

विज्ञाप्यते केशतैलम्

परं हन्त ! विज्ञापनं वर्तुलस्तनयोः

न जाने च किं वा विज्ञाप्यते

नारीवक्षोऽथवा स्वर्णहारः !!

यहाँ कवि की झल्लाहट ही समकालीन संस्कृत कविता का प्राण है, समकालीन संस्कृत-कवितई का सर्वातिशायी युगबोध है। संवेदनशीलता के सम्प्रेषण के लिये अपनाए गए माध्यम 'मुक्त-छन्द' की सफलता को यहाँ बधाई देना चाहिए। तुकबन्दी के अभाव में भी (जबकि मुक्तछन्द में यह तुकबन्दी कविता के भाव-प्रवाह का मूल कारण होता है) भाषा में जो प्रवाह है सुतरां प्रशंसनीय है। यह स्मरण रखें कि मुक्त-छन्द का अपना एक व्याकरण है, अपना एक शास्त्र है। हिन्दी वालों ने इसे पहचाना भी है और अलग पहचान भी दी है। संस्कृत वाले मगर इसकी अपनी ही पहचान मिटाने में लगे हैं। विश्वाल जी की कविताओं में यह

<sup>२</sup> दृक्, अंक१, पृष्ठ ५६ पर उद्धृत

व्याकरण परिनिष्ठित है। संस्कृत में जनवादी कविताओं के लिये मुक्तछन्द की यहाँ इस प्रकार की सफलता आशाजनक है।

अस्तु, जनवादी कविताओं के प्रसंग में उपर्युक्त चारों कविताएं अपनी सर्जना के जिस भावभूमि को प्रस्तुत कर रही हैं उसे देख जनवादी संस्कृत-कविताओं के भविष्य के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है।

२. यूं तो दलित-विमर्श 'सर्वहारा-क्रान्ति' के रूप में 'औद्योगिक-क्रान्ति' (१८५४ ई.) के तुरन्त बाद से, लगभग १४०-१५० वर्षों से विश्व की आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों या गतिविधियों में व्याख्यायित होता रहा है लेकिन साहित्य में यह विमर्श बीसवीं शती के पूर्व मध्यकाल में मुखर हुआ। सोवियत रूस व चीन के उत्थान-पतन, निर्माण व विघटन में कम्युनिज़्म एवं साम्यवाद के प्रभाव ने सर्वहारा-समाज की दशा, दिशा और उनकी संप्रभुता को वैश्विक महत्ता प्रदान करने हेतु विवश किया। भारत में 'नक्सलवाड़ी आन्दोलन' सर्वहारा-क्रान्ति का शंखनाद था जिसने हिन्दी-कविता का भविष्य बदल कर रख दिया और हिन्दी विश्व-साहित्य की अनुपम विभूति बन बैठी।

लेकिन संस्कृत-कविता का वर्तमान काल सर्वहारा-क्रान्ति या 'दलित-विमर्श' की मुख्य धारा से पूरी तरह कटा रहा और आज भी कटा हुआ है। समकालीन संस्कृत-कविता कभी भी वह वैश्विक महत्त्व या प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकती जब तक यह सर्वहारा-क्रान्ति या 'दलित-विमर्श' को उसकी बारीकियों के साथ नहीं अपनाती।

प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत-कविता के आधुनिक कुछ लेखक २१ वीं सदी के सबसे महत्त्वपूर्ण इस विन्दु पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। लेकिन इस प्रसंग में सर्वहारा समाज की संरचना, हजारों वर्ष से आहत उनके सार्वभौम जीवन-मूल्यों सहित उनकी वैश्विक परिस्थितियों पर जिस प्रकार की संवेदनशील दृष्टि की आवश्यकता होती है, मुझे यहाँ यह स्वीकार करने में कोई हिचक या संकोच नहीं कि संस्कृत-कवितई में इस दृष्टि का सर्वथा अभाव है।

इस प्रसंग को संदर्भित करने हेतु मैं कुछ आधुनिक संस्कृत कविताओं की सहायता लूंगा। वनमाली विश्वाल की 'घासपुष्पम्'<sup>३</sup> शीर्षक कविता को हम उदाहरण में ले सकते हैं। यहाँ घास; आज के तथाकथित सभ्य और पूंजीवादी समाज में शोषित, पद-दलित, पीड़ित और असहाय जनता का प्रतीक है-

कविता में दो पंक्तियाँ 'यत्रोत्थितस्तत्र निपातितः' और 'ममादरो दौर्भाग्यान्न जातः' बड़े महत्त्व की हैं। 'यदि उठा भी तो पद-दलित हुआ और मानव होने के नाते ही सही जो आदर मुझे मिलना चाहिए था वह दुर्भाग्य से मुझे नहीं मिला।' जनवादी कविताओं के प्रसंग में यह कविता निश्चय ही सम-कालीन संस्कृत-कविता का प्रतिनिधित्व करती है किन्तु अन्य भाषाओं में जनवादी कविताओं के विराट स्वरूप, संप्रत्यय व उसकी गंभीरता के समानान्तर यही कविता बहुत बौनी प्रतीत होगी। यहाँ मैं इस विषय को विस्तार दूंगा।

३ दृक् अंक-१०

इस कविता के लेखक ने जिस प्रतीक को लिया है वह है 'घास' अर्थात् अन्याय, शोषण और अमानवीय यन्त्रणाओं से कुचला हुआ पद-दलित समाज। कविता अपने उद्देश्यों को अपनी शर्तों पर पूरा कर पाती कि इसकी अन्तिम पंक्तियाँ बीच में रुकावट डाल देती है –

**'जन्मजाता महत्त्वाकांक्षा मे**

**शम्भो: शिरो भूषयाम्यवश्यम्।'**

अब यहाँ कवि अपने कथ्य की पुष्टि में या कथ्यान्तरों की तुष्टि में चाहे जितने तर्क, प्रमाण, युक्ति या आस्वाद की भूमि प्रदान करे, जनवादी कविताओं के पाठकों के कठघरे में आने से वह बच नहीं सकता। स्तुति-परकता ने ही संस्कृत को कभी भी जनवादी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य से जुड़ने नहीं दिया। यह स्तुति-परकता देवताओं से ही शुरू होती है और अपने निकृष्टतम रूपों में राजसत्ता, सत्तावाद, सामन्तवाद, उपनिवेशवाद या सम्राज्यवाद के पैरों तले जनवाद को ढकेल देती है।

अस्तु, जिस घास की जन्मजात महत्त्वाकांक्षा ही सत्ता के (यहाँ शम्भु या आस्तिकतावाद के नाम पर भारतीय संस्कृति-सभ्यता-अखण्डता और अध्यात्मवाद की दुहाई जनवाद स्वीकार नहीं करेगा) शिर को अलंकृत करने मात्र की हो तो उसकी गति पर इस प्रकार का रोना-धोना कवि को शोभा नहीं देता। खासकर युगबोध या वर्तमान जीवन-मूल्यों की समझ रखने वाले या जनवादी कविताओं के लेखक के लिए तो बिलकुल नहीं। अब इसी शीर्षक की एक पंजाबी-कविता के हिन्दी-अनुवाद से पाश की कुछ पंक्तियाँ देखिये -

**मैं घास हूँ**

**मैं तुम्हारे हर किये-धरे पर उग आऊँगा**

**बम गिरा दो चाहे विश्वविद्यालय पर**

**बना दो हर हॉस्टल मलबे के ढेर**

**सुहागा फिरा दो चाहे हमारे झुगियों पर**

**मेरा क्या करोगे**

**मैं तो घास हूँ, हर चीज़ ढक लूँगा .....**

**मैं घास हूँ, मैं अपना काम करूँगा**

**मैं तुम्हारे सारे किये-धरे पर उग आऊँगा<sup>४</sup>**

इस कविता की अन्तिम पंक्तियों में शोषित, पददलित, अमानवीय यन्त्रणाओं से पिसे हुए उसी जनता या विवेच्य प्रतीक 'घास' का आत्म-गौरव देखिए ! आत्म-विश्वास, आत्म-सामर्थ्य और दोनों के प्रति उसकी

<sup>४</sup> 'घास', अक्षर अक्षर, पृष्ठ २५५

आशावादिता देखिए ! जी हाँ शोषण और अन्याय का प्रतीकार करने वाला यही वह शस्त्र-विहीन आत्म-विश्वास, साधन-विहीन आत्म-सामर्थ्य और वाद-विहीन आत्म-बोध है जिसके समक्ष समूचा संसार भी यदि शोषक है तो वह भी डरा हुआ है। इस प्रसंग में 'घास' सी मामूली सत्ता रखने वाले भूखे-नंगों, शोषितों और असहायों से भय खाने वाले उपनिवेशवाद एवं पूंजीवाद की ओर संकेत करते हुए गोरख पाण्डेय<sup>५</sup> बहुत याद आते हैं -

वे डरते हैं  
 किस चीज़ से डरते हैं वे  
 तमाम धन-दौलत  
 गोला-बारूद पुलिस-फौज के बावजूद !  
 वे डरते हैं  
 कि एक दिन  
 गरीब और निहत्थे लोग  
 उनसे डरना बन्द कर देंगे।।

अस्तु, हम 'घासपुष्पम्' कविता की चर्चा कर रहे थे। यहाँ शीर्षक में प्रयुक्त 'घास' तो ठीक है, ये घास का फूल क्या बला है? और यदि घास एवं फूल दोनों एक ही हैं तो घास से भी तो काम चल सकता था (बल्कि अच्छा चलता क्योंकि घास इस संदर्भ का प्रभावी प्रतीक है)। क्या शम्भु के मस्तक पर चढने की आकांक्षा ने तो घास के बाद पुष्प पद को नहीं जोड़ दिया? या इसे पारंपरिक संस्कृत-कवितई का प्रभाव कहें, जिसने अच्छी खासी जनवादी विचार-धारा को पुराणपंथ की ओर मोड़ दिया। समकालीन संस्कृत कविता; विशेषकर जनवादी कविताओं को इस प्रकार के पारंपरिक और पुरातनपंथी मिथक कुछ अंशों में तो छोड़ने ही पड़ेंगे।

दलित-विमर्श के संदर्भ में विश्वाल जी की 'मेघः' 'उन्मत्तः' और 'वृक्षः' शीर्षक कविताएं भी उद्धरणीय हैं जिनमें मेघ, पागल व्यक्ति और वृक्ष क्रमशः प्रतीक हैं और अपनी समग्र चेतना में ये कविताएं सर्वहारा समाज की शोचनीय अवस्था को प्रकट करती हैं।

कृषक 'सर्वहारा'-समाज का अन्यतम सदस्य है। संस्कृत का एक समकालीन कवि इसे अपना प्रतीक चुनता है। 'शिल्प के बदलते आयाम'<sup>६</sup> शीर्षक अपने एक आलेख में हर्षदेव माधव ने पारम्परिक छन्दों के बनिस्बत मुक्त छन्द में संप्रेषण की सशक्तता को दर्शाने हेतु संभवतः अपनी ही एक कविता को उद्धृत किया है -

<sup>५</sup> 'उनका डर', समय का पहिया, पृष्ठ ५८

<sup>६</sup> दृक् अंक-१०

**‘विक्रीतात् क्षेत्रात्**

**याति कृषकः**

**अक्ष्णोः**

**पयोदा रिक्ताः।’**

और छन्दों के प्रति पारम्परिक कट्टरता रखने वालों के समक्ष इन्हीं भावों को अनुष्टुप् में अनुस्यूत कर प्रस्तुत किया -

**विक्रीतं कर्षकेणैतत् क्षेत्रं दारिद्र्यपीडया।**

**दृश्यन्ते नेत्रयोस्तस्य मात्रं रिक्ताः पयोधराः॥**

मेरी समझ से समकालीन भारतीय कविता की किसी भी भाषा का कोई भी पाठक उपर्युक्त हाइकू में आये भाव-प्रवणता और उसे अभिव्यक्त करने वाली काव्य-शैली के समक्ष इस अनुष्टुप् को कविता के क्षेत्र से तो जरूर ही खारिज कर देगा। मुक्त छन्द में आए ‘अक्ष्णोः पयोदा रिक्ताः’ का मूल कारण है ‘विक्रीतात्’ (क्षेत्रात् याति) जो कि लाक्षणिक प्रयोग है और यही प्रयोग कविता की जान है।

अनुष्टुप् में खेत-बेचने के जिस कारण को अभिधा का विषय बना दिया गया है मुक्त छन्द में वह कारण भावक के समकालीन आस्वाद की भूमि में कई बीज बो देता है और यह बीज नाना प्रकार के बोध-वृक्षों को उत्पन्न करता है। किसने कहा कि किसान ने ‘दारिद्र्यपीडया’ ही अपने खेत बेचे हैं। नक्सलबाडी में किसानों ने खेत बेचे नहीं थे उनसे ये छीने गए थे ! गंगा-एक्सप्रेस-वे जैसे दर्जनों प्रोजेक्ट्स ने किसानों को खेत बेचने का समय दिया कहाँ ! वहाँ तो सत्ता, बिल्डर और बहुराष्ट्रीय-कंपनी के दलालों की जोर पर खेत हथियाये गए। ऐसे असंख्य हृदय-द्रावक कारणों को आपने एककारणता प्रदान कर दी ‘दारिद्र्यपीडया’। और यदि ‘दारिद्र्यपीडया’ उसने अपने खेत बेचे ही हैं तो इसमें उदास या दुःखी होने की बात ही क्या है।

३. संस्कृत में जनवादी कविताओं के अभाव का एक कारण संस्कृत-कवियों का सामान्य जन, जन-जीवन, उसकी समस्याएं, शोषण, अन्याय, यंत्रणा, अमानव व्यवहार, दुर्दशा, अभाव, आपद् और विपत्ति से पराङ्मुख रहना है। यह एक विकट समस्या है। एक छात्र के रूप में और वृत्ति की दशा में अध्यापक के रूप में एक संस्कृतज्ञ अपने पारंपरिक तथा रूढिगत अध्ययन और अधीत विद्याओं के पौराणिक प्रभाव से मुक्त हो सामान्य जन-जीवन और उसकी इन विभीषिकाओं से तादात्म्य रख ही कितना पाता है। लेकिन इसके बावजूद सबकी भांति संस्कृतज्ञ है तो सामाजिक प्राणी ही। सामान्य जन-जीवन और उसकी इन विभीषिकाओं के प्रभाव में आने से वह बच भी कहाँ सकता है। खासकर तब जब वह कविकर्म हेतु संनद्ध हो। उसमें भी समकालीन कविता हेतु और उसमें भी जनवादी कविताओं की ओर।

समकालीन संस्कृत कविता में अभिव्यक्त एवं संप्रेषित समसामयिक युगबोध पर दृष्टिपात करें तो संस्कृतज्ञों की यह विकट समस्या स्पष्ट दीख पड़ती है। एक तरफ उत्तर-आधुनिकतावाद, बाजारवाद, पूंजीवाद, सह-अस्तित्ववाद आदि के द्वारा मानव, जीवन एवं इनके मूल्यों का नित्य-नवीन व्याख्यायित होता संप्रत्यय और दूसरी ओर पारंपरिक शास्त्रों के अभ्यास द्वारा मानव, जीवन एवं इनके मूल्यों का सीमित

अवबोध। यहीं से संस्कृत-कवितई का संघर्ष प्रारंभ होता है। संस्कृत कवि इस द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के चपेट में आये बिना रह भी कैसे सकता है। लेकिन जैसा कि होना अवश्यंभावी और प्रकृत्या सिद्ध है, सार्वभौम मानव जीवन एवं इसके मूल्यों में बदलाव लाने वाले कारकों की तरफ संवेदनशीलता सावधान रहती है, - संस्कृत का सम-कालीन कवि भी चट सावधान हो इन कारकों और भौतिक संभारों की ओर अपनी पैनी दृष्टि गड़ाये रखता है। हाँ यहाँ समकालीन मानव एवं इसके जीवन को विद्रूपित करने वाली विभीषिकाओं पर इस प्रकार की सतर्क-दृष्टि रखने वाले कवियों की संख्या अवश्य कम है और उससे भी कम है इस सतर्क दृष्टि के द्वारा आंकी गई विभीषिकाओं को अपनी समूची कलात्मकता और भावात्मकता के साथ प्रस्तुत करने वाली भाषिक संप्रेषणकला।

इस प्रसंग में अत्यन्त विनम्रता के साथ संस्कृत साहित्य के एतद्युगीन एक विलक्षण आचार्य (रेवाप्रसाद द्विवेदी) की दो रचनाओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूंगा। और वह इसलिए कि इन दोनों ही रचनाओं ने अपने को समकालीन एवं जनवाद की आधार-भूमि पर रखकर अपनी रचना-प्रक्रिया पूरी की है। आधुनिक संस्कृत-समीक्षा एवं आलोचना ने इन दोनों ही रचनाओं को युगबोध का सुंदर उदाहरण माना है तो मैंने इन्हें जनवादी कविताओं के भविष्य के रूप में देखने का प्रयत्न किया। पहली रचना है - शकटारम् यहाँ शकटार; सभ्य और पूंजीवादी समाज में शोषित, पद-दलित, पीडित और असहाय जनता का प्रतीक है। नेल्सन मण्डेला के रूप में भी स्थानापन्न इस शकटार का अतिवादी मानवीय यंत्रणा, शोषण, अन्याय आदि इस मुक्तक का वर्ण्य-विषय है। दूसरी रचना है - 'मतान्तरम्' जो कि समकालीन भारतीय मानव-समाज के चिन्तन-मनन, आचार और विचार के सापेक्ष अपने भिन्न (जनवादी कविता के संदर्भ में तो क्रान्तिकारी) मत प्रकट करता है।

जैसा कि मैंने निवेदन किया है एक आचार्य के रूप में आपकी प्रतिभा युग-प्रणम्य है और एक साहित्यकार के रूप में भी आपकी पाम्परिक काव्य-प्रतिभा सहृदयों द्वारा समादरणीय है, जिसका निदर्शन दशकों पूर्व 'उत्तर-सीताचरितम्' तथा 'स्वातन्त्र्यसम्भवम्' नामा महाकाव्यों में तथा कई नाटकों में प्राप्त हो चुका है। किन्तु युगबोध खासकर जनवादी-भावनाओं की कलात्मक एवं भावात्मक अभिव्यक्ति के प्रसंग में उपर्युक्त दोनों ही काव्य भाषा, भाव, शैली, शिल्प, प्रतीक आदि की दृष्टि से नितान्त असफल हैं।

अस्तु, जनवादी संस्कृत-कविता और जनवादी संस्कृत-कवि के इस संघर्ष को व्याख्यायित करने हेतु मैं कुछ छन्दोबद्ध कविताओं को उदाहरण में लूँगा। यहाँ प्रथम ही बता दूँ कि जिन कविताओं को यहाँ उदाहरण के रूप में लिया जा रहा है, या ऊपर शकटारम् या मतान्तरम् के रूप में लिया गया, वे अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान 'जनवाद' के सम्प्रत्यय से अछूती रही हैं, लेकिन इन्हें मैं जनवादी-संस्कृत-कविता पर बहस का विषय बना रहा हूँ।

यह सहृदय अनुभूत सत्य और तथ्य है कि जनवादी-कविताओं की जिस भावप्रवणता को मुक्त-छन्द अनायास प्रकट कर सकती है, छन्दोबद्ध कविताओं में वह कर्म सायास हो उठता है और वह भी आधे-अधूरे रूप में। जगन्नाथ पाठक जी के विशाल गजल-काव्य संग्रह में शताधिक ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें मैं जनवाद की भूमि में रचा मानता हूँ लेकिन शैली और अभिव्यक्ति की भिन्नता इनमें जनवादी कविता के शुद्ध रूप को

प्रकट नहीं होने देती। 'हविर्धानी' गजल-संग्रह में राजेन्द्र मिश्र जी का 'यूयं यूयं वयं वयम्' शीर्षक गजल अपने संप्रेषणीय भावों की अभिव्यक्ति के रूप में प्रभावी है, जनवाद का ऊपरी संविधान दीख तो पड़ता है, लेकिन सारे कथ्य, विम्ब, प्रतीक और संप्रेषणीय वस्तु 'जनवादी कविता' के क्षेत्र में चलताऊ सी हो जाती है। हाँ उन्हीं के एक गजल की पंक्ति है -

बुभुक्षुं कञ्चरादन्विष्य किञ्चित्पूतिगन्धम् ।  
अखाद्यं भक्षयन्तं प्रेक्ष्य सत्रीडोऽहमभवम् ॥

अपने संदर्भों में कवि ने यहाँ भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता का पूरा सदुपयोग कर समकालीन एक विकट समस्या को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है चूँकि यह प्रस्तुतीकरण गजल जैसे गेयात्मक और मात्रा आदि नियमों से नियंत्रित विधा में है, और वहाँ भी मात्र एक शे'अर के रूप में है तो जीवन को विद्रूपित करने वाली यह विभीषिका अपने उस रूप में न तो समूची कलात्मकता के साथ ही और न ही अपनी पूर्ण भावात्मकता के साथ ही संप्रेषित हो पायी है। इसी संदर्भ की एक छन्दो-मुक्त कविता और देखिए -

इतस्ततः भ्रमसि कंगालः  
न च भुक्तं गृहे किञ्चित्  
खादसि अखाद्यम्  
अपि न वमसि भुङ्त्वा  
उच्छ्वाष्टं तममेध्यभोजनम्

इस कविता का शीर्षक है 'टमी - वीथिकुकुरः'<sup>७</sup>। गली के कुत्ते के बहाने काव्य का वास्तविक प्रतीक है तथाकथित सभ्य समाज और पूंजीवादी व्यवस्था का मारा, बेसहारा भूखा एक दरिद्र। भ्रमसि, गृहे न भुक्तं किञ्चित्, 'अपि न वमसि' के रूप में युगबोध अपनी चरम सीमा पर है। लेकिन जिस प्रकार का विकट समस्यात्मक किन्तु प्रत्येक बुद्धिजीवी द्वारा अवश्य उद्घरणीय प्रतीक यहाँ लिया गया है, कविता में उस प्रकार की भावाभिव्यक्ति नहीं है। इस प्रसंग में संप्रेषण की कलात्मकता और पूर्ण भावात्मकता को व्याख्यायित करने के लिये मैं विन्दा करन्दीकर<sup>८</sup> की इसी विभीषिका के सापेक्ष लिखी एक 'आज का दिन मुझे मनाने दीजिये' शीर्षक कविता को यहाँ उद्धृत करूंगा -

'आज आर. के. लक्ष्मण ने लिखी  
आधुनिक भारत की सर्वश्रेष्ठ विद्रोही कविता  
आधी रेखाओं में आधी शब्दों में -

७ दृक्, अंक १, पृष्ठ ५८ पर उद्धृत

८ 'यह जनता अमर है' पृष्ठ-१३०

“नगरपालिका ने सफाई के लिये  
 कचरे के ढेर यहाँ से हटाए  
 तो हम भूख से मरेंगे”  
 आज का दिन मुझे मनाने दीजिए  
 कचरे में अन्नांश उटा कर जीवित रहने का अधिकार  
 अपने संविधान में अंतर्भूत है क्या  
 ऐसा न हो ता  
 सार्वजनिक वस्तु की चोरी करने के अपराध में  
 अपनी सरकार इन लोगों पर  
 नालिश दाग सकती है या नहीं  
 इससे पहले कि जानकार इन प्रश्नों का निर्णय करें  
 मुझे आज का दिन मनाने दीजिये।

भुखमरी या कूड़े/कचरे से भोजन प्राप्त करने की विडंबना जैसी समस्याओं के मूल कारण को अपनी पूर्ण कलात्मकता एवं भावात्मकता के साथ खोजने की कोशिश करते हुए राधावल्लभ त्रिपाठी<sup>९</sup> इस प्रसंग में याद आते हैं -

गच्छति पुरतो देशः पुनरिह पश्चात् प्रधृष्यते जनता।  
 कोऽयं समाजवादः प्रगतिर्वा कीदृशी सेयम्॥

लेकिन इस कारण का अनुसंधान अन्य भाषाओं में जिस सूक्ष्म कलात्मकता तथा भावात्मकता के साथ हो चुकी है उसके समानान्तर संस्कृत की भाषिक अभिव्यक्ति को स्थापित करने का प्रयत्न होना ही चाहिए। आइये धूमिल<sup>१०</sup> की इस पंक्ति को देखिये -

यह सब कैसे होता है' मैं उन्हें समझाता हूँ  
 मैं उन्हें समझाता हूँ  
 वो कौन सा प्रजातांत्रिक नुस्खा है  
 कि जिस उम्र में  
 मेरी माँ का चेहरा  
 झुर्रियों की झोली बन गया है

<sup>९</sup> जनतालहरी, पद्य-२५

<sup>१०</sup> अकाल-दर्शन, संसद से सड़क तक, पृ.१८

उसी उम्र की मेरे पड़ोस की महिला  
के चेहरे पर  
मेरी प्रेमिका के चेहरे-सा लोच है।

लेकिन इन्हीं कारणों की मीमांसा करने वाली उनकी दूसरी आयातित कविता; आयातित इस संदर्भ में कि समस्त क्षमताओं के बावजूद अभिव्यक्ति हेतु उन्हें कालिदास से शैली उधार लेनी पड़ी 'अन्यच्छायायोनि' के रूप में, - जनवाद के भाव तो हैं लेकिन अभिव्यक्ति जनवादी नहीं (जनतालहरी) -

वसनं परिधूसरं वसाना नितरां क्षाममुखी हतस्वरूपा।

अतिनिष्करुणेन केन नीता जनतैषा कटिनां दशां विषण्णाम्॥<sup>११</sup>

पारंपरिक छन्द के नियंत्रण और पारंपरिक काव्य-शैली की भयावहता से जनवादी अभिव्यक्ति बाधित हुआ करती है अतः समकालीन संस्कृत रचनाधर्मी को जनवादी कविताओं के प्रसंग में इस प्रकार के किसी भी मोह या माया से दूर रहना चाहिए।

### सन्दर्भग्रन्थसूची

१. करंदीकर, विंदा २००१. *यह जनता अमर है*, संवाद प्रकाशन, मेरठ.
२. धूमिल, सुदामा पाण्डेय. *संसद से सड़क तक*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
३. पाण्डेय, गोरख २००४. *समय का पहिया*, संवाद प्रकाशन, मेरठ.
४. पाश (पुनर्मुद्रण) २००८. *अक्षर अक्षर*, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ.
५. मिश्र, अभिराज राजेन्द्र, *हविर्धानी*, अक्षयवट प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद.
६. *दृक्* (षाण्मासिक पत्रिका) अंक १, जनवरी-जून १९९९.
७. *दृक्* (षाण्मासिक पत्रिका) अंक २, जुलाई-दिसम्बर १९९९.

---

<sup>११</sup> दृक्, अंक २, पृष्ठ-८४ पर उद्धृत